शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

नवम्बर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ७

'हे नाथ! मैं आपके पदचिह्नों का अनुसरण करता चला आ रहा हूँ....'

'अहो नाथ! अन्तरशक्ति के अवलम्बन से आप सर्वज्ञ हुए और हमें वह मार्ग बतलाया। हे नाथ! आपकी प्रसन्नता से मैं भी आपके ही मार्ग पर चला आ रहा हूँ... हे भगवान! आपकी प्रसन्नता प्राप्त करके मैंने आत्मबोध प्राप्त किया... हे प्रभु! मैं भी आपके पद-पद पर चला आ रहा हूँ...'

—अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके भगवान के भक्त कहते हैं कि—हे भगवान! आप तो आत्मा के अतीन्द्रिय परम-आनन्द के पूर्ण भोक्ता हो गये हैं और हमारे लिये भी आप थोड़ा प्रसाद रखते गये हैं... हे भगवान! आपकी प्रसन्नता से हमें भी आपके अतीन्द्रिय आनन्द का प्रसाद प्राप्त हुआ है। *[दीपोत्सवी प्रवचन से]*

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७५]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पाठकों को सूचना

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है, जिन्हें चाहिये, शीघ्र मंगा लेवें। मूल्य १) रु० है। पोस्टेज अलग।

प्रेस में छप रहे हैं

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, द्वितीय भाग
समयसार हरिगीतिका (हिन्दी पद्य में)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला, द्वितीय भाग

पाठक गण प्रतीक्षा करें

सूचना

श्रीमत् भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत-श्री नियमसार शास्त्र संस्कृत टीका सहित सर्वोत्तम संस्करण छपेगा। मूल्य लागत से भी एक रुपया कम लेने का है, अब प्रेस में है, छपने पर सूचित करेंगे।

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

नवम्बर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ७

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[४६]

अधिकरणशक्ति

[अंक नं० १७४ से आगे]

आत्मा के सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है?—तो कहते हैं कि अधिकरण शक्तिरूपी माता ही उसका आधार है।...जिसप्रकार लोक में बालक को माता का आधार, शिष्य को गुरु का आधार, प्रजा को राजा का आधार—ऐसे विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा में धर्म का आधार क्या?—तो कहते हैं कि अपनी अधिकरणशक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का आधार है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती।

वनवास के समय सीता को बाह्य में राम का वियोग हुआ था, किन्तु अंतर में आतमराम का वियोग नहीं था... वनवास के समय भी निःशंकरूप से उन्हें भान है कि—मुझे अपने चिदानन्दस्वभाव का ही आधार है... यह वन या सिंह-बाघ की गर्जनाएँ कोई भी प्रतिकूल संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं! ऊपर

आकाश और नीचे धरती के सिवा सगे-सम्बन्धी कोई नहीं है, फिर भी मैं अशरण नहीं हूँ; अंतर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही महान आधार है—शरण है। राजमहल मुझे शरणभूत थे और इस जंगल में मैं अशरण हूँ—ऐसा नहीं है; आत्मा के अतिरिक्त सारा जगत मेरे लिये अशरण ही है।

अब अधिकरणशक्ति में आत्मा के धर्म का आधार क्या है—वह बतलाते हैं। "भाव्यमान भाव के आधारपनेमयी ऐसी अधिकरणशक्ति आत्मा में है," इसलिये आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का आधार है; अन्य कोई आधार नहीं है।

जिसप्रकार लोक में बालक को माता का आधार, शिष्य को गुरु का आधार, प्रजा को राजा का आधार, स्त्री को पति का आधार, रोगी को वैद्य का आधार, छत को स्तम्भ का आधार—इसप्रकार विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा में धर्म का आधार क्या है?—आत्मा में ऐसी अधिकरणशक्ति है कि वह स्वयं ही अपने धर्म का आधार होता है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वह धर्म है; और उस भाव का भवन (-परिणमन) आत्मा के ही आधार से होता है; किसी अन्य के आधार से नहीं होता; इसलिये आत्मा ही उसका अधिकरण है।

आत्मा के सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है?—तो कहते हैं कि अधिकरणशक्तिरूपी माता ही उसका आधार है; परमार्थतः आत्मा स्वयं ही अपने को ज्ञान देता है इसलिये ज्ञानपर्यायरूपी जो शिष्य, उसका गुरु आत्मा स्वयं ही है; स्वयं ही अपना गुरु है; निर्मलपर्यायरूपी जो प्रजा, उसका आधार चैतन्य राजा स्वयं ही है। निर्मल परिणतिरूपी जो स्त्री, उसे अपने स्वभावरूप चैतन्यपति का ही आधार है; राग-द्वेष-मोहरूपी रोग चैतन्यस्वभाव के आधार से ही मिटता है, इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना वैद्य है; और मोक्षदशारूपी जो छत, उसे स्थिर रहने के लिये स्तम्भ भी आत्मा स्वयं ही है; आत्मा के स्वभाव के आधार से ही मोक्षदशा होती है।—इसप्रकार अपने भाव का आधार आत्मा स्वयं ही है।

शरीर-मन-वाणी या राग, आत्मा के धर्म का आधार नहीं है; तथा आत्मा उन शरीर-मन-वाणी का या राग का आधार नहीं है; वास्तव में आत्मा अपनी निर्मलपर्याय का ही आधार है। जिसने अपने स्वभाव को ही अपना आधार बनाया, उसे स्वभाव के आधार से निर्मल पर्यायें ही

होती हैं; स्वभाव के आधार से मलिन पर्यायें नहीं होतीं, इसलिये निर्मलपर्याय का ही आधार होना आत्मा का स्वभाव है; मलिनता का आधार होना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके आधार से दु:ख की उत्पत्ति होती ही नहीं; उसके आश्रय से तो आनन्द की ही उत्पत्ति होती है। धर्मी की श्रद्धा में अपने शुद्ध आत्मा का ही आधार है और उसके आधार से उसे निर्मलपर्यायें ही होती रहती हैं।

देखो, आचार्यदेव ने छह शक्तियों में आत्मा का ही छह कारकों रूप से वर्णन किया है। आत्मा ही अपना कर्म, आत्मा ही अपना कर्ता, आत्मा ही अपना करण, आत्मा ही अपना सम्प्रदान, आत्मा ही अपना अपादान और आत्मा ही अपना अधिकारण—इसप्रकार छहों कारक आत्मा से अभिन्न हैं; भिन्न पदार्थों को कारक कहना वे वास्तव में कारक हैं ही नहीं। निमित्तरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल अभाव है और इन स्वभावरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल सद्भाव है।—इसप्रकार छह कारकों की छह विभक्तियाँ और एक सम्बन्ध विभक्ति—यह सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त बतलाती है।

देखो, यह आत्मा के धर्म का आधार बतलाते हैं। "निरोगी शरीर हो, आँख-कान आदि इन्द्रियाँ स्पष्ट हों, पैसा मकान आदि की सुविधा हो तो उसके आधार से धर्म होता है"—ऐसा कोई माने तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि तू मूढ़ है; क्या तेरे आत्मा में तेरे धर्म का आधार हो—ऐसी अधिकरणशक्ति नहीं है जो तुझे दूसरों का आधार लेना पड़े? भाई, तेरा आत्मा ही तेरे धर्म का आधार है; तेरा असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही तेरे सम्यग्दर्शनादि धर्म का आधार है; इसके सिवा बाह्य क्षेत्र के आधार से तेरा धर्म नहीं है। "अहो! महाविदेहक्षेत्र में तो धर्म का स्रोत बह रहा है;"—इसप्रकार जहाँ महाविदेहक्षेत्र की बात आये, वहाँ मानो उस क्षेत्र के आधार से ही धर्म होगा—इसप्रकार अज्ञानी की दृष्टि बाह्य में जाती है। किन्तु उस महाविदेहक्षेत्र में विचरनेवाले धर्मात्मा स्वयं तो ऐसा जानते हैं कि हमारा असंख्य प्रदेशी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही हमारे धर्म का आधार है, यह बाह्यक्षेत्र कहीं हमारे धर्म का आधार नहीं है।—ऐसा जानने के पश्चात व्यवहार से धर्म का बहुमान करने के लिये ऐसा कहा जाता है कि "अहो! महाविदेहक्षेत्र तो धर्म की भूमि है...उस भूमि के आधार से सीमंधरादि तीर्थंकर तथा लाखों केवली भगवन्त और करोड़ों सन्त साक्षात् विचर रहे हैं; उस भूमि में धर्म की खूब पैदावार होती है।"

उसीप्रकार मोक्षगामी सन्तों का स्मरण करने के लिये भक्ति से ऐसा कहा जाता है

कि—''अहो! इस सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र के आधार से तो अनंत तीर्थंकरों और सन्तों ने मोक्ष प्राप्त किया है... यह तो शाश्वत तीर्थ है और इसका प्रत्येक रजकण पूज्य।''—ऐसी भक्ति को सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है?—कि तीर्थंकर और सन्त, चैतन्यस्वभाव को अधिकरण बनाकर जिस भाव से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उस भाव को जानकर अपने में भी वैसा भाव प्रगट करें तब।—ऐसी भावना होती है कि अहो! ऐसा स्वावलम्बी भाव प्रगट कर-करके पूर्व काल में अनंत तीर्थंकर और सन्तों ने यहाँ से मोक्ष प्राप्त किया है।—इसप्रकार इसमें तो स्वावलम्बी भाव की प्रधानता आती है। ऐसे स्वावलम्बी भाव को जाने बिना मात्र बाह्य क्षेत्र को ही अपनी मुक्ति का आधार मानकर उसी का बहुमान करता रहे तो उसे मात्र पुण्यबन्ध होगा किन्तु धर्म लाभ नहीं हो सकता। धर्म तो चैतन्य स्वभाव के ही आधार से होता है।

जिसप्रकार लकड़ी के मुलायम टुकड़े पर गहने नहीं गढ़े जाते; उसके लिए तो लोहे की एरन का आधार होना चाहिये; उसीप्रकार शरीर-इन्द्रियाँ या रागादि तो मुलायम हैं। उनके आधार से धर्म की गढ़ाई (धर्म का निर्माण) नहीं हो सकती। कठिन चैतन्यधन ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसी के आधार से धर्म की गढ़ाई-धर्म का निर्माण होता है।

इन छह कारक शक्तियों के वर्णन द्वारा तो आचार्यदेव ने स्व-पर को एकदम विभक्त बतलाकर भेदज्ञान कराया है। आत्मा स्वयं ही अपनी शक्ति से छह कारणरूप होता है; अन्य कारकों की उसे अपेक्षा नहीं है।

निमित्त, वे आत्मा के कर्ता नहीं है;
निमित्त, वे आत्मा का कर्म नहीं है;
निमित्त, वे आत्मा का साधन नहीं है;
निमित्त, वे आत्मा का सम्प्रदान नहीं हैं;
निमित्त, वे आत्मा का अपादान नहीं हैं;
निमित्त, वे आत्मा का अधिकरण नहीं हैं।

आत्मा स्वयं स्वभाव से ही अपने भाव का कर्ता है; स्वयं ही कर्म है, स्वयं ही करण है, स्वयं ही सम्प्रदान है, स्वयं ही अपादान है और स्वयं ही अधिकरण है। अपनी शक्ति से ही स्वयमेव छह कारकरूप होकर सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है।

सम्यग्दर्शन हो, उसका आधार कौन? शरीर, लक्ष्मी या इन्द्रियाँ उसका आधार नहीं हैं,

शुभभाव भी उसका आधार नहीं है और मात्र पर्याय का आधार लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; अधिकरणशक्ति से आत्मा स्वयं ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शन का आधार होता है। सम्यग्दर्शन, वह भाव्यमान भाव है और आत्मा उसका आधार है। धर्मी जीव अपने आत्मस्वभाव को ही आधाररूप से भाता है; अपने स्वभाव का ही आधार लेकर सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित होता है; इसके अतिरिक्त व्यवहार का, राग का या निमित्त का आधार धर्मी नहीं मानते।

एक ओर कहे कि आत्मस्वभाव के आधार से धर्म होता है और फिर कहे कि व्यवहार के राग के या निमित्त के आधार से भी धर्म होता है, तो यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। आत्मस्वभाव के आधार से ही धर्म होता है—ऐसा जो जानता है, वह व्यवहार—राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता ही नहीं। और जो व्यवहार, राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता है, उसने धर्म के सच्चे आधाररूप आत्मस्वभाव को माना ही नहीं है। व्यवहार का—राग का या निमित्त का आधार लेने से तो विकार की ही उत्पत्ति होती है; और यदि उसे धर्म का कारण माने तो मिथ्यात्व होता है। आत्मस्वभाव के आधार से तो निर्मलपर्याय की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये आत्मा निर्मल पर्याय का आधार है। यहाँ आधार और आधेय (द्रव्य और पर्याय) दोनों भिन्न नहीं, किन्तु अभेद है। जिसप्रकार, गहनों की गढ़ाई का आधार एरन;—इस दृष्टान्त में तो एरन भिन्न है, किन्तु यहाँ निर्मलपर्याय के आधाररूप द्रव्य कहीं उससे भिन्न नहीं है; द्रव्य स्वयं उस निर्मलपर्याय में अभेद होकर परिणमित हुआ है। जिसप्रकार—एरन के आधार से जितने गहने गढ़ना हों, उतने तथा जैसे गढ़ना हों, वैसे गढ़े जाते हैं; उसीप्रकार आत्मस्वभाव के आधार से जितनी निर्मलपर्याय करो, उतनी तथा जैसी करना हो, वैसी होती है; सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की समस्त निर्मल पर्यायों का आधार होने की शक्ति आत्मस्वभाव में है। आत्मा स्वयं आधाररूप से ध्रुव रहकर अपने ही आधार से सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप होता है।—ऐसा आत्मा ही परम शरणभूत-परम आधारभूत है। जो जीव ऐसे आत्मस्वभाव का आधार लेता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सिद्धपद को प्राप्त होता है; और जो जीव आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर पर का आधार लेने जाता है, वह निराधाररूप से संसार में परिभ्रमण करता है।

- आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है;
- विभाग क्षणिक है; और
- संयोग अभावरूप है।

अब, यदि आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर संयोग का आश्रय लेने जाये तो वे संयोग कहीं उसे आधारभूत नहीं होते; मात्र आकुलता और विभाव की उत्पत्ति होती है। और यदि संयोग का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसके आधार से निराकुल शांति होती है। धर्मात्मा जानता है कि चाहे जिस प्रसंग में, चाहे जिस क्षेत्र में मुझे अपने आत्मा का ही आधार है... महल में या जंगल में मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। देखो, सीताजी पर्मात्मा थीं... जब चरम शरीरी लव और अंकुश उनके गर्भ में आये, तब उनके मन में आकांक्षा जागृत हुई कि मैं सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा करूँ। और ठीक उसी समय नगरजनों ने आकर रामचन्द्रजी से लोकापवाद की बात कही। रामचन्द्रजी ने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया कि—"सीता को सम्मेदशिखर आदि तीर्थों तथा जिनविम्बों की वंदना कराओ और उनकी इच्छा पूर्ण होने पर फिर सिंहनाद नामक भयानक वन में अकेली छोड़ दो।" सीताजी ने हर्षसहित भक्तिभाव से तीर्थ वंदना की... सिंहनाद वन आने पर रथ को रोककर सेनापति एकदम रो उठते हैं... तब सीताजी पूछती हैं कि "अरे सेनापति! क्या हो गया तुम्हें? तीर्थ वंदना के इस शुभ अवसर पर तुम शोक क्यों कर रहे हो?" सेनापति की आँखों से आँसू बह रहे हैं। वे कहते हैं "हे माता! जिसप्रकार मुनिवर रागपरिणति का त्याग कर देते हैं, उसीप्रकार श्री रामचन्द्र ने लोकापवाद के भय से आपको वन में अकेली छोड़ देने का आदेश दिया है।" सेनापति के शब्द कानों में पड़ते ही सीताजी मूर्छित हो गईं... देखो, उस मूर्च्छा के समय भी धर्मात्मा सीताजी के अंतर में भान है कि चाहे जिस प्रसंग पर अपने धर्म के लिये मुझे अपने आत्मा का ही आधार है।—फिर सचेत होने पर श्री रामचन्द्रजी को संदेश पहुँचाती है कि—"हे सेनापति! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से मेरा त्याग कर दिया, किन्तु जैनधर्म को मत छोड़ना। अज्ञानी लोग जिनधर्म की भी निन्दा करें तो उस निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ देना... चौविध संघ की सेवा करना... मुनियों एवं अर्जिकाओं को भक्तिपूर्वक आहारदान देना... देखो, ऐसे दुःखद प्रसंग पर भी सीताजी को अंतर स्वभाव के आश्रय से धर्मोल्लास उत्पन्न हुआ है... अंतर में धर्म के आधारभूत स्वभाव का आश्रय है, उसी के आधार से यह उल्लास पैदा हुआ है... अहो! मैं भले ही वन में अकेली रह गई, किन्तु मेरे अंतर में धर्म का आधार विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती... और मेरे राम से कहना कि वे भी धर्म को न छोड़ें। इसप्रकार धर्म को ही शरणभूत जानकर धर्मात्मा उसी का आश्रय लेते हैं। अज्ञानी तो संयोग में और आकुलता में एकाकार होकर अंतर के आधार को भूल जाते हैं। धर्मात्मा को भी किंचित् आकुलता

और शोक हो जाता है, किन्तु वे आत्मा के आधार को भूलकर शोक में या संयोग में एकाकार नहीं हो जाते। संयोग को अपने धर्म का आधार स्वप्न में भी नहीं मानते; इसलिये सभी प्रसंगों पर स्वभाव के आधार से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म तो वर्तता ही रहता है। साधारण जीवों के लिये धर्मात्मा के हृदय की पहिचान करना कठिन है।

जहाँ शेर, चीते घूम रहे हैं, ऐसे भयानक वन में सीताजी अकेली बैठी हैं। उदर में लव और अंकुश जैसे दो चरमशरीरी पुत्र पड़े हैं... शेर, चीतों की दहाड़ें सुनाई देती हैं। अरे! यह शेर आया... चीता आया...। किंचित् भय भी लगता है; तथापि स्वभाव में तो उस समय भी निःशंक है कि अरे! मैंने तो अपने चैतन्य का आधार लिया है... यह जंगल, यह शेर, चीतों की गर्जनाएँ—कोई भी संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है। ऊपर आकाश और नीचे धरती... भले ही कोई सगे-सम्बन्धी नहीं हैं किन्तु मैं अशरण नहीं हूँ; अंतर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही महान शरण है। देखो, सीताजी कहाँ हैं? क्या जंगल में हैं?—नहीं; क्या संकट में हैं?—नहीं; अपनी आत्मा में हैं? अंतर में चैतन्यस्वभाव को शरण लेने से जो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के परिणाम होते हैं, उन्हीं में सीताजी का आत्मा वर्त रहा है। आधारभूत ऐसे अपने स्वभाव की शरण को प्रतिक्षण दृढ़ करती हैं। बाह्य में जो कुछ होना हो सो हो; किन्तु अंतर में जो चैतन्य का महान आधार है, वह नहीं छूट सकता; उस चैतन्य के आधार से हमें दुःख नहीं किन्तु आनन्द ही है। आँखों से आँसू बह रहे हैं; फिर भी भान है कि—मेरा आत्मा इन आँसुओं का आधार नहीं हैं; किंचित खेद के परिणाम होते हैं, उनका आधार भी आत्मा नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द का ही आधार है। यह स्त्री का शरीर मैं नहीं हूँ; इस भयानक जंगल में या विशाल राजमहल में रहनेवाले हम नहीं है। महल हमें शरणभूत थे और जंगल में हम अशरण हो गये—ऐसा नहीं है। अपने आत्मा के सिवा सारा जगत हमारे लिये अशरण ही है।

—देखो, यह मात्र ऐसे विकल्प या विचार की बात नहीं है, किन्तु आत्मबल से अंतर में ऐसे अभिप्राय का निर्विकल्प परिणमन चैतन्यस्वभाव के आधार से हो गया है; वह प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रसंग पर वर्तता ही रहता है; उसकी यह बात है। चैतन्यस्वभाव के आधार से जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन हुआ, वही धर्म है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग में भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रय से शांति मिलती है। सातवें नर्क की घोर प्रतिकूलता में पड़े हुए नारकियों में

भी कोई कोई जीव पूर्वकाल की देशनालब्धि के संस्कारों का आधार लेकर अंतर में अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशांति का वेदन करते हैं कि स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देवों को भी उसकी गंध तक नहीं होती। आत्मा का आधार लिये बिना बाह्य में किसी के आधार से सुख या शांति लेना चाहे तो वह तीन काल-तीन लोक में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगों में किसी भी क्षण अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सुख एवं शांति का अनुभव होता है।

भाव्यमान भाव का आधार हो—ऐसी आत्मा की शक्ति है। ज्ञानी भावक होकर निर्मल भाव को भाता है और अज्ञानी भावक होकर विकार की भावना करता है। ज्ञानी तो स्वभाव के आधार से निर्मल भाव प्रगट करके उन्हीं के आधार से परिणमित होता है। अज्ञानी अपने आत्मा को विकार का ही आधार मानकर मात्र विकाररूप से परिणमित होता है; निर्मल पर्याय के आधाररूप अपने शुद्ध स्वभाव को वह नहीं जानता; इसलिये बाह्य आधार से निर्मलता प्रगट करना चाहता है, यह उसकी बाह्य दृष्टि है। चैतन्य का आधार छोड़कर जो बाह्य में अपना आधार ढूँढ़ता है, वह भले ही महान सम्राट हो, तथापि भिखारी ही है; क्योंकि वह दूसरों से अपने ज्ञान-आनन्द की भीख माँगता है। और "मैं ही अपने आनन्द का आधार हूँ, अपने ज्ञान-आनन्द के लिये मुझे अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं है"—ऐसी स्वभावदृष्टि करनेवाला सम्यक्त्वी कदाचित् नर्क में हो, तथापि वह महान सम्राट है।

शरीर या राग, वह आत्मा के धर्म का आधार नहीं है; क्योंकि शरीर और राग छूट जाने पर भी सम्यग्दर्शनादि बने रहते हैं, इसलिये वे कोई धर्म का आधार नहीं हैं; तथा आत्मा, शरीर का या राग का आधार नहीं है। संसार का आधार ही आत्मा नहीं है; वह तो मोक्ष का ही आधार होता है—ऐसा उसका स्वभाव है।

ऐसा सिद्धान्त है कि—केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है; किन्तु उसमें तो यह बतलाया है कि उस समय कैसा निमित्त होता है। कहीं वह निमित्त इस जीव के क्षायिकसम्यक्त्व का आधार नहीं है; सम्यग्दर्शन का आधार आत्मा स्वयं ही है; आत्मा के आधार से ही वह परिणमन होता है।

जिसका जो आधार हो, वह उससे अभिन्न होता है; भिन्न नहीं होता। यदि वस्तु में अपना आधार होने की शक्ति न हो तथा भिन्न आधार हो तो अनवस्था दोष आ जाये; आधार की परम्परा

कहीं न रुके। जैसे—कोई ऐसा कहे कि—आत्मा का आधार यह शरीर; शरीर का आधार ? मकान; मकान का आधार ?—यह जम्बूद्वीप; जम्बूद्वीप का आधार ?—मध्यलोक; मध्यलोक का आधार ?—लोक; और लोक का आधार ?—अलोक; तो अलोक का आधार कौन होगा ? अलोक से विशाल तो कोई है ही नहीं जिसे उसका आधार कहा जाये। इसलिये अलोक का आधार अलोक ही है, कोई भिन्न आधार नहीं है; तो फिर अलोक की भाँति जगत के अन्य पदार्थों को भी निश्चय से अपना-अपना ही आधार है, पर का आधार नहीं है। समयसार में भी आकाश का उदाहरण देकर भेदज्ञान की अद्‌भुत बात समझाई है। वहाँ कहते हैं कि जब अकेले आकाश को ही लक्ष में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये, तब आकाश को अन्य किसी द्रव्य का आधार नहीं कहा जा सकता, इसलिये कोई भिन्न आधार लक्ष में नहीं आता। एक आकाश हो आकाश में है—ऐसा भलीभाँति समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को भी पर के साथ आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। उसीप्रकार मात्र ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर, उसके आधार का विचार किया जाये तो ज्ञान से भिन्न अन्य किसी द्रव्य का आधार दिखाई नहीं देता; एक ज्ञान ही स्वयं अपने में ही है—ऐसा भलीभाँति समझ में आता है; और ऐसा समझनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न अन्य किन्हीं पदार्थों के साथ अपना आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होने से स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञानरूप ही परिणमित होता है और राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती।—यह संवर होने का उपाय है। (—देखो, संवर-अधिकार गाथा १८१-८२-८३)

देखो, निरालम्बी आकाश का उदाहरण देकर आत्मा का ज्ञानस्वभाव समझाया है। अहो ! समस्त लोक निरालम्बी है। चारों ओर तथा ऊपर-नीचे अनंतानंत अलोकाकाश के मध्य में ३४३ घनराजु प्रमाण यह लोक शाश्वत विद्यमान है। अनंतानंत जीव-पुद्‌गलों से वह परिपूर्ण है। इस लोक के नीचे कोई आधार नहीं है अथवा ऊपर से किसी रस्सी के आधार से नहीं लटक रहा है तथा किसी ने इसे धारण नहीं कर रखा है; तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर पड़ता। लोक के नीचे बिलकुल रिक्त स्थान ही है, तथापि वह नीचे नहीं उतर जाता; ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है। जिसप्रकार लोक ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है, उसीप्रकार लोक के समस्त पदार्थ भी निरालम्बीरूप से अपने-अपने स्वरूप में स्थित है; उन्हें किसी भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं है। अहा ! देखो तो यह वस्तुस्वभाव।

पुनश्च, समवशरण में विराजमान सर्वज्ञ परमात्मा के नीचे रत्नमणि का दैवी सिंहासन होता

है, किन्तु भगवान का शरीर उस सिंहासन का स्पर्श नहीं करता; भगवान तो सिंहासन से चार अंगुल ऊपर निरालम्बीरूप से आकाश में विराजमान होते हैं।

भगवान का आत्मा तो अपने स्वभाव के आधार से परिपूर्ण वीतरागी निरालम्बी हो गया है और वहाँ शरीर का स्वभाव भी निरालम्बी हो गया है। किसी भी बाह्यपदार्थ के अवलम्बन बिना भगवान का आत्मा परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित हो रहा है। समस्त आत्माओं का ऐसा निरालम्बी स्वभाव है। किन्तु मूढ़-अज्ञानी जीवों को बाह्य अवलम्बन की मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती और वे आत्मा का अवलम्बन नहीं लेते। इसलिये इस अधिकरणशक्ति में आचार्यदेव ने समझाया है कि हे जीव! स्वयं ही अपने धर्म का आधार हो—ऐसी तेरे आत्मा की शक्ति है, इसलिये तू अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन ले..... तथा दूसरों के अवलम्बन की बुद्धि छोड़।

अहा! कैसा निरालम्बी तत्त्व!

—यहाँ ४६वीं अधिकरणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

''कारणशुद्धपर्याय'' की लेखमाला के सम्बन्ध में

'कारणशुद्धपर्याय' वह नियमसार का महत्त्वपूर्ण विषय है। नियमसार के इस विषय पर लगभग चार वर्ष पहले 'आत्मधर्म' में पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों की लेखमाला प्रारम्भ हुई थी। 'आत्मधर्म' अंक १४० में उसका पाँचवाँ लेख प्रकाशित होने के पश्चात् वह लेखमाला रुक गई थी; अब उसे पुनः प्रारम्भ करने से पूर्व उसके पूर्व प्रकाशित लेखों का संक्षिप्त अवलोकन कर लें—

अंक १३१ वीर सं० २४८२ में इस लेखमाला की उत्थानिका के रूप में समुद्र का दृष्टान्त देकर समझाया है और दस बोलों द्वारा उसका कुछ स्पष्टीकरण किया है।

अंक १३४ में इस लेखमाला का प्रथम लेख प्रकाशित हुआ है; उसमें नियमसार गाथा ३ के प्रवचनों द्वारा 'कारणनियम और कार्यनियम' का विस्तृत स्पष्टीकरण किया है। उसमें कहा है कि

शुद्ध रत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य उसका कारण तेरे स्वभाव में ही वर्तता है। अन्तर में जब देखे तब मोक्षमार्ग का कारण तुझमें वर्त रहा है। इस 'कारण' को पहिचानकर उसके साथ एकता करने से मोक्षमार्गरूपी कार्य हो जाता है। अन्तर में कारण-कार्य की एकता साधते-साधते.... अनुभव में लेखनी डुबो-डुबोकर मुनिवरों ने यह भाव निकाले हैं।

अंक १३५ में दूसरा लेख प्रकाशित हुआ है; उसमें पण्डित बनारसीदासजी की 'परमार्थ वचनिका' में से आगम-अध्यात्म के स्वरूप का विवेचन है। उसमें कहा है कि—आत्मा में अध्यात्मरूप शुद्ध चेतनापद्धति त्रिकाल है। भाई! तेरे आत्मा में विकार और शुद्ध चेतना—इन दोनों की धारा अनादि परम्परा से चली आ रही है। उनमें से जहाँ त्रैकालिक शक्तिरूप शुद्धता की धारा को कारणरूप से स्वीकार किया, वहाँ मोक्षमार्गरूप निर्मल कार्य की धारा प्रारम्भ होती है और विकार की धारा टूट जाती है। अहा! यह बात जिसके आत्मा में बैठ गई, वह जीव मोक्षमार्ग में आ गया...

अंक १३७ में प्रकाशित तृतीय लेखांक में नियमसार के टीकाकार की शैली का अवलोकन किया है; और पंचम पारिणामिकभाव में अवस्थित 'कारणशुद्धपर्याय' की ध्वनि किस प्रकार निकलती है वह बतलाया है।

तत्पश्चात् अंक १४० में प्रकाशित १० वीं गाथा के प्रवचनों में 'कारणस्वभाव - ज्ञानउपयोग' का वर्णन किया है; उसमें कहा है कि 'कारण' तो सदैव शुद्धशक्तिरूप से ही वर्तता है; किन्तु उस कारण का अवलम्बन लेकर जहाँ शुद्ध कार्य हुआ, वहाँ ज्ञात होता है कि अहो! मेरा असली कारण तो यह है! कारण का अवलम्बन लेनेवाला जागृत हुआ—अर्थात् जब कार्य हुआ—तब कारण की महिमा ज्ञात हुई और उसे कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि हुई।

—इसप्रकार उपरोक्त पाँच लेखों के पश्चात् अब इस लेखमाला का छठवाँ लेख यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है—

कारणशुद्धपर्याय

[६]

(अंक १४० से आगे)

ज्ञान-उपयोग के प्रकार; उनमें उपादेयरूप स्वरूप-प्रत्यक्ष सहजज्ञान का वर्णन

[नियमसार गाथा ११-१२ के प्रवचन]

यह ब्रह्मोपदेश है... कैसा है यह ब्रह्मोपदेश? संसार के मूल का छेदन करनेवाला है। ''अहो! संत मेरे स्वभाव को अचिन्त्य महिमा समझा रहे हैं;''—इसप्रकार जो स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा! अहो! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण... पूर्ण... और पूर्ण है। ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके उसका उल्लास करना, सो मोक्ष का कारण है। जीव को जहाँ स्वभाव की ओर का उल्लास जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उल्लास नहीं रहता; इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती है, संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह की गति स्वभाव की ओर ढल जाती है।—ऐसा उल्लसित वीर्यवान जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित यह नियमसार शास्त्र अलौकिक है; इसमें अध्यात्म के गहरे भाव भरे हैं और टीकाकार पद्मप्रभ मुनिराज ने भी सूक्ष्म रहस्यों को खोलकर आत्मा के परमस्वभाव को प्रकाशित किया है।

दसवीं गाथा में आत्मा के उपयोग-लक्षण का वर्णन करते हुए स्वभावज्ञान-उपयोग के 'कारण' और 'कार्य'—ऐसे दो प्रकार बतलाये और उनमें से कारणस्वभावज्ञान-उपयोग को ''परमपारिणामिकभाव से स्थिर त्रिकाल निरुपाधिरूप सहजज्ञान'' कहकर अद्भुत वर्णन किया। उसका विस्तृत विवेचन हो गया है। अब, ११-१२ वीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए इस सहजज्ञान का ही (-कारणस्वभावज्ञान-उपयोग का ही) 'स्वरूपप्रत्यक्ष' के रूप में वर्णन करेंगे; तथा उसे 'मोक्ष का मूल' और 'उपादेय' कहकर उस सहजज्ञान के नित्य विलासरूप ऐसे निज आत्मा की भावना करने को कहेंगे। इसमें भी अद्भुत बात आयेगी। देखिए, मूल गाथा—

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं॥११॥
सणाणं चउभेयं मदिसुद ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव॥१२॥

जो केवल, इन्द्रिय रहित और असहाय है, वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेदों से विभावज्ञान दो प्रकार का है। (यहाँ जिसप्रकार विभावज्ञान को दो प्रकार का कहा है, उसीप्रकार स्वभावज्ञान का भी कारण और कार्य—ऐसे दो प्रकार से वर्णन करके टीकाकार अद्भुत बात समझायेंगे।)

विभावज्ञान में जो सम्यग्ज्ञान है, उसके चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय तथा जो अज्ञान है उसके तीन भेद हैं—कुमति, कुश्रुत और विभंग।

मति-श्रुतादि चार ज्ञान सम्यक् होने पर भी अभी अधूरे हैं तथा आवरणसहित हैं, इसलिये उन्हें विभावज्ञान कहा है। और कुमति आदि तीन ज्ञान तो विपरीत रूप ही हैं, इसलिये उन्हें विभावज्ञान कहा है।

जिसमें इन्द्रियों का आलम्बन नहीं है, कर्मों का आवरण नहीं है, पर की सहायता नहीं है—ऐसा अकेला असहाय निरपेक्ष ज्ञान, सो कारणस्वभावज्ञान है। वह स्वभावज्ञान परममहिमावान है; उसका वर्णन करते हुए कारण और कार्य दोनों को एक ही साथ रखकर टीकाकार अद्भुत बात करते हैं।

''जो निरुपाधि स्वभाववाला होने से केवल (—अकेला, शुद्ध) है, आवरणरहित स्वभाववाला होने से क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान (विघ्न, बाधा) से रहित है; एक-एक वस्तु में व्याप्त नहीं होता, इसलिये (—समस्त वस्तुओं को एकसाथ जानता है इसलिये) असहाय है, वह कार्यस्वभावज्ञान है। और कारणज्ञान भी वैसा ही है।''

जीव का उपयोगलक्षण है; उसके भेदों का यह वर्णन है। यह देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है; उसका उपयोगलक्षण भी अनादि-अनंत है। उस उपयोग का 'कारणस्वभावज्ञान' नामक एक प्रकार है, वह भी अनादि-अनंत है; आत्मा के साथ वह त्रिकाल एकरूप वर्तता है; उसके आधार से केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होता है, वह सादि-अनंत है।

यहाँ कहते हैं कि जैसा कार्यस्वभाववाला है, वैसा ही कारणस्वभावज्ञान है। यद्यपि कार्यज्ञान तो सादि-अनन्त है और कारणज्ञान तो अनादि-अनंत है;—इसप्रकार उनमें अंतर है; तथापि जैसा 'शुद्ध कार्य' प्रगट हुआ, वैसा ही उसका 'शुद्धकारण' त्रिकाल वर्तता है—ऐसा बतलाने के लिये यहाँ ''कार्यस्वभावज्ञान जैसा ही कारणस्वभावज्ञान है'' ऐसा कहा है; इसप्रकार शुद्ध कार्य के ऊपर से उसके कारण की पहिचान कराई है। केवलज्ञान तो कार्यज्ञानस्वभाव है, वह नवीन प्रगट होता है। वह केवलज्ञानरूप कार्य कहाँ से प्रगट हुआ?—तो कहते हैं कि उस कार्य जैसा ही एक कारणस्वभावज्ञान है, उसी में से वह कार्य प्रगट होता है। देखो, यह आत्मा के स्वभाव-कार्य का कारण! केवलज्ञानरूप जो स्वभावकार्य हुआ, उसका कारण कोई निमित्त तो नहीं है; व्यवहाररत्नत्रय का राग भी कारण नहीं है और मति-श्रुत ज्ञानरूप जो पूर्व पर्याय-वह भी परमार्थतः कारण नहीं है; किंतु आत्मा के साथ त्रिकाल वर्तता हुआ ऐसा जो कारणस्वभावज्ञान है, वही केवलज्ञान का परमार्थकारण है; उसी में लीनता से केवलज्ञान होता है। इसलिये कहा है कि जैसा कार्यस्वभावज्ञान है, वैसा ही कारणज्ञान है।

देखो, यहाँ 'कारण जैसा कार्य है'—ऐसा न कहकर 'कार्य जैसा कारण है' ऐसा कहा है; क्योंकि कार्य व्यक्त-प्रगट है, उस प्रगट द्वारा अप्रगट शक्तिरूप कारण बतलाना है। कार्य पर से कारण की पहिचान कराते हैं। केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है तो समझो कि भीतर वैसा ही सामर्थ्यवाला कारण विद्यमान है। जैसा कार्य प्रगट हुआ, वैसा ही उसका कारण आत्मा में वर्तता है; तेरे आत्मा में केवलज्ञान का कारण उस समय भी वर्त रहा है; उस कारण का अवलम्बन लेने से कार्य प्रगट हो जाता है। सामान्यतः लोगों को केवलज्ञानरूप कार्य की महिमा तो आती है, किंतु वह केवलज्ञानरूप कार्य होने का कारण इस समय भी अपने में विद्यमान है—वह उनके लक्ष में नहीं आता; इसलिये बाह्य कारणों से व्यर्थ की दौड़ धूप करते हैं। यदि अन्तर में ध्रुव उपयोगरूप कारणस्वभावज्ञान को लक्ष में लेकर उसी को कारणरूप से स्वीकार करे तो उस कारण के अवलम्बन से कार्य हुए बिना न रहे। यह 'कारण' त्रिकाल है, किन्तु उस कारण को कारणरूप से स्वीकार करनेवाला कार्य तो सादि है। ''कारण की सिद्धि कार्य से है''—अर्थात् कार्य होने से कारण की सिद्धि होती है। कारण नया नहीं होता, किंतु उस 'कारण की सिद्धि' नई होती है—कारण की प्रसिद्धि-पहिचान नई होती है। जबतक कारण के आश्रय से कार्य प्रगट नहीं किया, तबतक कारण की पहिचान (-प्रसिद्धि) नहीं हुई है। जिसने कारण के अवलम्बन से कार्य प्रगट किया, उसी को कारण की सच्ची पहिचान तथा प्रसिद्धि हुई है।

'कारण' शब्द ही 'कार्य' को सूचित करता है अर्थात् 'कारण' ऐसा नाम 'कार्य' की अपेक्षा रखता है; इसलिये जहाँ कार्य हुआ, वहीं कारण की सिद्धि हुई है। यहाँ कार्य कहने से मात्र केवलज्ञान नहीं समझना चाहिये, किंतु स्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहीं कार्य का प्रारम्भ हो गया है। सम्यग्ज्ञानरूप कार्य होते ही धर्मी को भान हुआ कि अहो! मेरा कारण तो मुझमें ही है; पहले भी मुझमें ऐसा कारणरूप स्वभाव तो था ही, किन्तु मुझे उसका भान नहीं था और मैंने उसका अवलम्बन नहीं लिया, इसलिये कार्य नहीं हुआ। अब मुझे इस कारण की महिमा ज्ञात हुई... **अहो! केवलज्ञान का कारण हो—ऐसी अचिन्त्य शक्ति आत्मा में सदैव वर्त रही है; आत्मा की महिमा ही अचिन्त्य है; शुद्ध चैतन्य तरंगें सदैव मेरे आत्मा में उछल रही हैं!—इसप्रकार आत्मा की अचिन्त्य महिमा की प्रतीति होने पर, उसमें एकाग्रता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाते हैं, वह अपूर्व धर्म है।**

आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है; उपयोग उसका लक्षण है, वह भी अनादि-अनंत है; जो शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय है तथा वह कारणस्वभाव उपयोग शुद्ध तरंगरूप से सदैव वर्तमान अस्तिरूप वर्तता है; उसका नाम कारणस्वभावज्ञान उपयोग है, और उसमें से जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्यस्वभावज्ञान-उपयोग है। ''उपयोग वह जीव का लक्षण है''—ऐसा कहने से यह दोनों उपयोग उसमें आ जाते हैं।

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि—जैसा कार्यज्ञान है, वैसा ही कारणज्ञान है।—ऐसा कहकर कार्य-कारण की अद्‌भुत संधि बतलाई है। कार्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान; वह कैसा है?—कि उस कार्यस्वभावज्ञान में क्रम नहीं है; इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है; अंतराय या आवरण नहीं है तथा अल्पज्ञता नहीं है। अहो! केवलज्ञान के सामर्थ्य की क्या बात? उसमें ऐसा क्रम नहीं है कि एक के बाद एक पदार्थ को जाने; वह तो सब एक ही साथ अक्रमरूप से जानता है; उसे इन्द्रियों की सहायता नहीं है, वह अतीन्द्रिय है; किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही जानता है; इसलिये वह असहाय है—स्वाधीन है; उसे किन्हीं कर्मों का आवरण या अंतराय नहीं है; उसमें रागादि विभाव नहीं हैं, तथा अमुक को जाने और अमुक को न जाने—ऐसी अल्पज्ञता भी उसमें नहीं है।—ऐसा अचिंत्य महिमावंत कार्यस्वभावज्ञान है, और कारणज्ञान भी वैसा ही है। केवलज्ञानरूपी कार्य हुआ, वह अतीन्द्रिय है; तो उसका कारण भी वैसा ही-अतीन्द्रिय है। केवलज्ञान आवरणरहित है, तो कारणज्ञान भी त्रिकाल आवरणरहित है; केवलज्ञान का कभी (-प्रगट होने के

पश्चात्) विरह नहीं होता, उसीप्रकार कारणज्ञान का कभी (तीन काल में) विरह नहीं है। केवलज्ञान में क्रम नहीं है, उसीप्रकार कारणज्ञान में भी क्रम नहीं है; केवलज्ञान में इन्द्रियों की सहायता या पर का अवलम्बन नहीं है। उसीप्रकार कारणज्ञान में भी किसी की सहायता या आलम्बन नहीं है; केवलज्ञान एकसाथ सर्व को जानता है; उसीप्रकार कारणज्ञान में भी वैसा ही सामर्थ्य है।—इसप्रकार केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान में जैसा सामर्थ्य है, वैसा ही अचिन्त्य सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में त्रिकाल है, और वह कारणज्ञान आत्मा में त्रिकाल है। अहो! जहाँ कार्य की बात आये, वहाँ त्रैकालिक कारण भी वैसा ही बतलाते जाते हैं। जिसने ऐसे अचिंत्य महिमावंत अतीन्द्रिय असहाय शुद्ध कारणस्वभावज्ञान का निर्णय किया—स्वीकार किया, उसे किसी पर के आश्रय से अपना ज्ञानकार्य होने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहती।

केवलज्ञान वह कार्यस्वभावज्ञान है; उसकी अचिंत्य महिमा है; और कारणज्ञान भी वैसा ही है। केवलज्ञानरूप कार्य तो नया होगा, किन्तु वह केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व ही उसके कारणरूप स्वभावज्ञान इस समय भी मुझमें वर्त रहा है—ऐसा धर्मी जानता है। केवलज्ञान प्रगट होगा, वह काहे में से आयेगा ?—क्या निमित्तकारणों में से आयेगा ? नहीं; इसलिये वे सचमुच कारण नहीं हैं। क्या व्यवहाररत्नत्रय के राग में से केवलज्ञान आयेगा ?—नहीं; इसलिये वह भी सच्चा कारण नहीं है। क्या पूर्वकालीन अल्पज्ञ पर्याय में से केवलज्ञान आयेगा ?—नहीं; इसलिये वह भी सच्चा कारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान आत्मा में त्रिकाल है, उसी में केवलज्ञानरूप कार्य देने की शक्ति है; उस कारण के अवलम्बन से ही कार्य होता है; इसलिये वही सच्चा कारण है। आत्मा को ऐसे सामर्थ्यरूप से दृष्टि में / श्रद्धा में लेना, सो सम्यग्दर्शन है; उसका ज्ञान, सो सम्यग्ज्ञान है और उसमें लीनता, सो सम्यक्चारित्र है;—यही मोक्ष का पंथ है। इसके अतिरिक्त जो किसी अन्य बाह्य कारण से मुक्ति का होना मानते हैं, वे संसार के मार्ग में ही खड़े हैं, उन्हें मुक्ति पंथ की खबर नहीं है।

आत्मा का उपयोग ज्ञान और दर्शन—ऐसे दो प्रकार का है; उनमें से ज्ञान के प्रकारों का यह वर्णन चल रहा है। जो स्वभावरूपज्ञान है, वह कार्य और कारण—ऐसे दो प्रकार का है। कार्यस्वभावज्ञान तो केवलज्ञान है। वह ज्ञान—

* उपाधि रहित है,
* मात्र शुद्ध-एकरूप है,
* कर्म के आवरण से रहित है,

* क्रम के बिना जाननेवाला है,
* उसमें इन्द्रियों का निमित्त नहीं है,
* देश-काल का अन्तराय उसे नहीं है,
* किसी की सहायता नहीं है;

और कारणज्ञान भी वैसे ही सामर्थ्यवाला है। टीकाकार उस कारणज्ञान को 'स्वरूप-प्रत्यक्ष' कहेंगे।

'कारणज्ञान' निज परमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहज परमचित्शक्तिरूप निज कारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद जानने में समर्थ है। कार्यज्ञान तो उस सहजचतुष्टय को जानता ही है और कारणज्ञान में उसे जानने का सामर्थ्य है; इसलिये वह कारणज्ञान भी कार्यज्ञान जैसा ही है। यद्यपि कार्यज्ञान की भाँति कारणज्ञान जानने का प्रगट कार्य नहीं करता, किंतु उसमें वैसा कार्य प्रगट होने की शक्ति भरी है, वह बतलाने के लिये उसे यहाँ कार्यज्ञान जैसा कह दिया है।

प्रश्नः—छद्मस्थ का ज्ञान तो आवरणयुक्त तथा क्रमवाला ही होता है न?

उत्तरः—छद्मस्थ को जो आवरण है, वह कार्यज्ञान में (-विभावरूप कार्यज्ञान में) है; कारणज्ञान में उसे आवरण नहीं है; उसीप्रकार जो क्रम है, वह कार्य में है; कारणज्ञान में क्रम नहीं है। इन्द्रियों का निमित्त, परोक्षपना आदि भी कार्यज्ञान में है; कारणज्ञान में इन्द्रियों का निमित्त या परोक्षपना आदि नहीं है। अहो! छद्मस्थदशा के समय भी केवलज्ञान जैसा ही सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में है; ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति करके उसके सन्मुख परिणमित होते-होते जैसा कारण है, वैसा ही कार्य प्रगट हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान होता है। संसारदशा के समय भी कारणस्वभावज्ञान को कोई विघ्न नहीं है; और जिसने ऐसे कारण का अवलम्बन लिया, उसे केवलज्ञानरूप कार्य होने में विघ्न नहीं आता।

—इसप्रकार कारणरूप तथा कार्यरूप ऐसे शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा। उसमें जो कारणस्वभावज्ञान है, वह निश्चयनय का विषय है—द्रव्यदृष्टि का विषय है; और जो कार्यज्ञान है, वह व्यवहारनय का विषय है। जिसे कार्यस्वभावज्ञान प्रगट हो गया है, उसे स्वयं को कहीं व्यवहारनय नहीं होता, किन्तु दूसरा जीव जब उस कार्य को लक्ष में ले, तब उसे व्यवहारनय होता है; **और जब अपने कारणस्वभावज्ञान को लक्ष में ले, तब उसका ज्ञान अंतरस्वभावोन्मुख होता है**

अर्थात् उसे निश्चयनय होता है। निश्चयनय का जो ज्ञेय है, वही वास्तव में केवलज्ञान का कारण है; और जो व्यवहारनय का ज्ञेय है, वह वास्तव में केवलज्ञान का (-अथवा सम्यग्दर्शनादि का भी) कारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान के अवलम्बन से जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ कारण और कार्य दोनों समान हुए, अर्थात् कारण में जैसा सामर्थ्य था, वैसा परिपूर्ण सामर्थ्य कार्य में भी प्रगट हो गया। **ऐसे कारणस्वभाव की प्रतीति, सो सम्यग्दर्शन है; सम्यक्त्वी को निर्विकल्प आनन्द के वेदनसहित ऐसे कारणस्वभाव की प्रतीति हो गई है। फिर उस कारण में ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आनन्द का वेदन भी बढ़ता जाता है।—इसप्रकार कारण के सन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते-झूलते महामुनि भगवान ने यह रचना की है। वाह! वीतरागी मुनियों के मुख से अमृत झरा है! देखो, यह गणधरादि संतों की परम्परा से आई हुई बात!** संतों ने अंतर के सूक्ष्म रहस्य खोले हैं। किसी को विशेष समझ में न आये तो सामान्यरूप से ऐसी महिमा करना चाहिये कि अहो! यह तो मेरे सवभाव की अचिंत्य महिमा की बात है; संत मेरे आत्मस्वभाव की अचिंत्य महिमा समझा रहे हैं।''—इसप्रकार जो इसे सुनकर स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा।

अहो! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण... पूर्ण... और पूर्ण है! प्रतिसमय अपने स्वभाव-सामर्थ्य से वह परिपूर्ण विराजमान है। ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके उसका उल्लास करना, सो मोक्ष का कारण है। **जीव को जहाँ स्वभाव की ओर का उल्लास जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उत्साह नहीं रहता, इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती हैं; संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह का वेग स्वभावोन्मुख हो जाता है—ऐसा उल्लसित वीर्यवान जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है।**

अहो! केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होने के आधाररूप कारणस्वभावज्ञान आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्षरूप से वर्त ही रहा है।—**यह बात कहाँ से निकली? कारण के आश्रय से सिद्धदशारूप कार्य को साधते हुए साधक संतों के आत्मा में से यह बात निकली है। जंगल में वास करनेवाले, आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनि के अंतर में से यह रहस्य निकले हैं... अंतरंग अध्यात्म की गहराई में से यह प्रवाह निकला है। अंतरस्वरूप के अनुभव को मुनियों ने प्रकाशित किया है... अत्यन्त निकटरूप से केवलज्ञान की साधना हो रही है, वहाँ उस कार्य को साधते हुए उसके कारण की अचिन्त्य महिमा की है कि अहो! यह हमारे केवलज्ञान का कारण! अंतर में शक्ति के साथ व्यक्ति की संधि करके, कारण के साथ कार्य की संधि करके मुनियों के आत्मा में**

से सिद्धपद की साधना करते-करते यह अद्‌भुत ध्वनि उठी है। अहो! सिद्धपद के साधक मुनियों की क्या बात! अलौकिक अध्यात्म के अनेक रहस्य उनके अनुभव की गहराई में भरे हैं। उनमें से बाहर तो अमुक ही आते हैं। अंतर की गहराई में से मुनियों ने अलौकिक रहस्य बाहर निकाले हैं। यह अंतर की अद्‌भुत बात है।

त्रिकाल कारणस्वभावरूप ज्ञान की प्रतीति करने से साधकदशारूप कार्य प्रगट हो जाता है, और उसका पूर्ण कार्य तो केवलज्ञान है। त्रिकाल वर्तता हुआ जो स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान है, वही केवलज्ञान का अभेद कारण है; वह 'ब्रह्मस्वरूप' है और उसमें अन्तर्मुख होने का यह उपदेश है, इसलिये यह 'ब्रह्मोपदेश' है। कैसा है यह ब्रह्मोपदेश?—तो कहते हैं कि संसार के मूल का छेदन कर देनेवाला है। जो जीव इस ब्रह्मस्वरूप आत्मस्वभाव को जानकर उसमें अंतर्मुख होता है, उसके संसार का छेदन हो जाता है। वेदान्तवाले जो अद्वैत-ब्रह्म कहते हैं, उसकी यह बात नहीं हे; विशेष रहित एकान्त अद्वैत सामान्य तो खरगोश के सींगों की भाँति असत् होने से मिथ्या है। **यहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके विशेषसहित के सामान्य की कोई अचिन्त्य बात है। जो कार्य हुआ, वह विशेष है और उसका जो एकरूप कारण है, वह सामान्य है। इसप्रकार सामान्य-विशेष की एकतारूप अनेकान्त वस्तुस्वरूप है।**

केवलज्ञान के आधाररूप जो कारणस्वभावज्ञान है, उसे 'परमपारिणामिकभाव में स्थित' कहा है। केवलज्ञान तो क्षायिकज्ञान में सादि-अनंत स्थित है और यह कारणस्वभावज्ञान, परम पारिणामिकभाव में अनादि-अनंत स्थित है।

यहाँ कोई ऐसा कहे कि—जिसप्रकार क्रोधादि को कर्मोदय की अपेक्षा से तो औदयिकभावरूप कहा है, और अन्य की अपेक्षा के बिना उन्हें पारिणामिकभावरूप कहा है; उसीप्रकार यहाँ भी कर्मक्षय की अपेक्षा से तो केवलज्ञान को क्षायिकभावरूप कहा है और निरपेक्ष दृष्टि से उसे को 'पारिणामिकभावरूप स्थित सहज ज्ञान' कहा है—ऐसा तो नहीं है न?

उसका स्पष्टीकरण—नहीं; जो सहज कारणस्वभावरूप ज्ञान है, वह तो 'त्रिकाल' निरुपाधिरूप है, और वह पारिणामिकभावरूप से सदैव वर्तता है; उसका कभी विरह नहीं है। और केवलज्ञान तो नया प्रगट होता है, पहले उसका विरह था। कारणस्वभावज्ञान का पहले भान नहीं था, उस अपेक्षा से उसका विरह कहा जा सकता है, तथापि उस समय भी कहीं उसका अभाव नहीं था। कारणज्ञान को तो स्वरूपप्रत्यक्ष कहा है, और केवलज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं कहा, किंतु

सकल-प्रत्यक्ष कहा है।—इसप्रकार केवलज्ञान ही कारणस्वभावज्ञान नहीं है—ऐसा समझना। ज्ञान का जो त्रिकाल प्रत्यक्षस्वभाव है, उसे यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान अथवा कारणस्वभावज्ञान कहा है।

यह कारणस्वभावज्ञान समस्त जीवों में त्रिकाल वर्त ही रहा है। जैसे सिद्ध भगवन्त लोकाग्र में विराजमान हैं, वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं अर्थात् 'सर्व जीव हैं सिद्धसम'—ऐसा कहा है, उसमें तो वह शक्ति-अपेक्षा से कहा है; कहीं सिद्ध भगवन्तों की भाँति पूर्ण ज्ञान-आनंदरूप सिद्धदशा, संसारी जीवों के प्रगट नहीं है। किंतु यह जो कारणस्वभावज्ञान है, वह तो समस्त जीवों को सदैव वर्त ही रहा है, वह कहीं नया नहीं होता, किंतु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नया प्रगट होता है। त्रिकाल ज्ञानस्वभाव शुद्ध है और उसके आश्रय से होनेवाला केवलज्ञान भी शुद्ध है; एक कारणरूप से शुद्ध है और दूसरा कार्यरूप से शुद्ध है।

यह शुद्धज्ञान कैसे हैं ?—तो कहते हैं कि—आनन्ददाता हैं। उनमें कार्यरूप केवलज्ञान तो सादि-अनंत आनन्ददाता है और अनंत चतुष्टय का सादि-अनंत भोक्ता है। तथा कारणरूप ज्ञान अनादि-अनंत आनन्ददाता है—त्रिकाल आनन्द के साथ एकमेक है; सहज चतुष्टय के साथ ही सदा शोभायमान हो रहा है।

जो अनंत आनन्ददाता केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह तो महिमावान है; किंतु वह प्रगट कहाँ से हुआ ?—तो कहते हैं कि कारणस्वभाववान में से। इसलिये सच्ची महिमा वह कारण की है। निचलीदशा में केवलज्ञान तो होता नहीं है किंतु कारणज्ञान होता है; और उस कारण की महिमा लाकर उसमें लीन होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अज्ञानी मात्र पर्याय की महिमा करके बाह्य कारणों की शोध में लगा रहता है, किंतु केवलज्ञान प्रगट होने के आधाररूप जो त्रिकाली कारणज्ञान अपने स्वभाव में वर्त रहा है, उसकी महिमा उसे ज्ञात नहीं है। **यदि अपने कारणस्वभाव की महिमा आ जाये तो उसके बल से शुद्ध कार्य प्रगट हो और बाह्य कारणों की दृष्टि छूट जाये।** केवलज्ञान होने से पहले भी अपने में जो ध्रुव कारणरूपस्वभाव तो ही, उसकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है; और फिर उस कारण की महिमा करके उसमें एकाग्रता का बल लगाने से केवलज्ञान विकसित हो जाता है।

आत्मा के स्वभाव को पहिचाने, तभी उसकी सच्ची महिमा आती है। आत्मा की पहिचान बिना उसका माहात्म्य पहले से कैसे आ सकता है ? आत्मा क्या है, उसके गुण क्या हैं, उसका

स्वभाव क्या है;—इसप्रकार ज्यों-ज्यों पहिचान होती है, त्यों-त्यों उसकी महिमा आती है। जैसे—किसी चरवाहे को सवा लाख रुपये का सुन्दर हीरा मिल गया हो, किंतु उसकी पहिचान के बिना वह उसके माहात्म्य को कैसे जानेगा ?—वह तो उसे काँच का अच्छा टुकड़ा मानकर किसी गाय-बकरी के गले में बाँध देगा। किंतु कोई जौहरी उसे बतलाये कि अरे, यह तो सवा लाख रुपये का हीरा है !—तो उसकी पहिचान होने पर ही वह उसके माहात्म्य को समझ सकता है। उसीप्रकार यहाँ चरवाहा अर्थात् अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव; उसके पास महा मूल्यवान चैतन्यरत्न है, किंतु पहिचान न होने के कारण वह उसकी यथार्थ महिमा को नहीं जानता; इसलिये वह तो उसे बकरी के गले की भाँति शुभ-अशुभराग में ही बाँध देता है; किंतु जब भेदज्ञानी जौहरी उसे समझाते हैं कि—"अरे मूढ़ ! यह तेरा चैतन्यरत्न, शुभाशुभराग जितना नहीं है; यह तो ज्ञान-आनन्द-प्रभुता आदि अनंतऋद्धि से परिपूर्ण है; इसमें चैतन्य की प्रभा चमक रही है; उपशांतरस की लहरें उछल रही हैं; अतीन्द्रिय-प्रकाश की किरणें फूट रही हैं !" और जहाँ ऐसा भान हुआ, वहाँ उसकी अपार महिमा आती है कि अहो ! ऐसा है मेरा चैतन्यरत्न ! ऐसी महिमा आने पर वह अपने चैतन्यरत्न को राग के साथ नहीं बाँधता—राग में एकाग्रता नहीं करता, किंतु स्वयं अपने स्वभाव में ही एकाग्र होता है।—इसप्रकार आत्मा का स्वरूप जाने तो उसकी यथार्थ महिमा आये और उसमें एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करे।

आत्मा वर्तमान में भी ऐसा परिपूर्ण स्वभाव से भरा है; उसकी महिमा आये बिना किसी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या मोक्षरूपी कार्य प्रगट नहीं होता। इसलिये यहाँ सन्त आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं कि हे भाई ! तेरे आत्मा का स्वभाव **किसी समय अधूरा नहीं है, वर्तमान में भी उसका परिपूर्ण स्वभाव है, इसलिये उसमें एकमेकपने की बुद्धि करके उसी को अभेद आलम्बन कर, उसकी महिमा लाकर उसी में अन्तर्मुख हो - उसी पर जोर दे—उसी की प्रधानता कर—उसी को मुख्य कर—उसी का अवलम्बन कर—उसी का आदर कर—उसी का (-परिपूर्ण कारणस्वभाव का) आश्रय कर—उसी में उत्साह कर—उसी में तत्पर हो, संतुष्ट हो—उसी की आराधना कर—उसी का ध्यान कर! तेरा यह स्वभाव सर्व शक्तिमान प्रभु है; उसे कोई दबानेवाला नहीं है, कोई विघ्न बाधा नहीं है, काल या कर्म उसे आवृत नहीं कर सकते; अनादि-अनन्त जब देखो तब वर्तमान में ही वह परिपूर्ण है; तू जिस समय अन्तर्मुख होकर अपने ऐसे आत्मस्वभाव को पकड़े, वह समय तेरा अपना है, वह स्व समय है। आत्मा में प्रतिसमय**

पूर्णता विद्यमान है; कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता, जब पूर्ण कार्य प्रगट करने के लिये आत्मा में वर्तमान पूर्ण कारण न हो। 'पूर्ण कारण' प्रति समय विद्यमान है; उस कारण के स्वीकार से कार्य प्रगट हो जाता है।

देखो, यह अन्तर के कारण-कार्य की सृष्टि!! आत्मा के कारणस्वभाव में से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य की सृष्टि—उत्पत्ति होती है। इसमें कार्य तो उत्पाद—व्ययरूप परिणाम है; वह पहले नहीं होता और फिर प्रगट होता है। और कारणस्वभाव वह ध्रुवरूप परिणाम है, वह सदैव विद्यमान है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है।

अर्थात् वह प्रगट पर्याय में नहीं आता; नित्य कारणरूप विद्यमान रहता है। केवलज्ञान के कारणरूप जो ध्रुव ज्ञानपरिणाम है, उसे सहज स्वभावज्ञान अथवा स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान कहते हैं; उसमें आत्मा के सहज चतुष्टय को युगपत् जानने की सामर्थ्य त्रिकाल है; उस त्रिकाल के साथ वर्तमान की एकता होने से वह वर्तमान पर्याय भी पूर्ण-सामर्थ्यरूप से परिणमित हो जाती है।

* त्रिकाल सामर्थ्य में से वर्तमान आता है,
* ध्रुव के आश्रय से ही उत्पाद होता है,
* द्रव्य में से पर्याय आती है,
* कारण के आश्रय से कार्य होता है,
* शक्ति में से व्यक्ति होती है,
* 'प्राप्त' की प्राप्ति होती है,
* निश्चय के आश्रय से मुक्ति होती है,
* ज्ञायकस्वभावी आत्मा विकार का अकर्ता है,
* आत्मा की शक्तियाँ बाह्य कारणों से अत्यन्त निरपेक्ष हैं,
* आत्मा और पर प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है,

— इनमें से किसी भी एक बोल का निर्णय करने पर सभी बोलों का निर्णय हो जाता है, और यह जैनशासन की मूल वस्तु है। इस वस्तु को समझे बिना जैनधर्म का रहस्य समझ में नहीं आता, और अन्तर्मुहूर्त हुए बिना यह वस्तु समझ में नहीं आती।

आत्मा स्वयं परम स्वरूप होने से परमात्मा है। उसमें सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहज परम चित्शक्ति त्रिकाल विद्यमान हैं; वह 'कारणसमयसार' का स्वरूप है।

यहाँ सहज चतुष्टय को कारणसमयसार कहते हैं, वही कारणपरमात्मा है और वह त्रिकाल एकरूप है; उसके आश्रय से अनन्त चतुष्टयरूप कार्यसमयसारपना प्रगट होता है। और 'समयसार' आदि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित आत्मा को 'कारणसमयसार' कहते हैं—वह दूसरी बात है, उसमें तो मोक्षमार्ग की बात है। आत्मा, मोक्ष के कारणरूप मोक्षमार्गरूप में परिणमित हुआ; इसलिये उसे 'कारणसमयसार' कहा है। वास्तव में जो ध्रुवरूप कारणसमयसार है, वही मोक्ष का निश्चयकारण है, और यह जो मोक्षमार्गरूप कारणसमयसार है, वह व्यवहार से मोक्ष का कारण है। मोक्षमार्गरूप से तो वह निश्चय है, किन्तु मोक्ष के कारणरूप से वह व्यवहार है।

देखो, यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना—उसे भी व्यवहार कहा है; क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय को कहीं मोक्षदशा नहीं लाती; एक पर्याय के आश्रय से दूसरी पर्याय नहीं होती। मोक्षमार्ग की पूर्णता होने पर मोक्ष होता है—ऐसा नियम है, किन्तु वह मोक्ष किसके आश्रय से होता है ?—वह यहाँ बतलाना है। पूर्व का साधकभाव कहीं साध्य को बलात्-जबरन परिणमित नहीं करता; किन्तु साध्यपर्याय स्वयं स्वभाव का आश्रय करके स्वतः परिणमित होती है।

प्रश्नः—यदि साधकभाव, साध्यभाव को परिणमित नहीं करता, तो फिर उस पूर्वभाव को साधक क्यों कहा ?

उत्तरः—क्योंकि पूर्वकालीन साधकभावपूर्वक ही साध्यभाव प्रगट होता है; इसलिये पूर्वभाव को साधक कहा है। जैसे कि—सम्यक्मति-श्रुतज्ञानपूर्वक ही केवलज्ञान होता है, ऐसा पूर्व-उत्तरभाव बतलाने के लिये मति-श्रुत को केवलज्ञान का साधक कहा है, किन्तु केवलज्ञान कहीं मति-श्रुतज्ञान के आधीन नहीं है। **मति-श्रुतज्ञानादि साधकभाव भी जबरन केवलज्ञानादि साध्यभाव को परिणमित नहीं करते, तो फिर व्यवहार-राग या निमित्तादि की तो बात ही कहाँ रही!** यहाँ तो एकदम अन्तर्मुखता की बात करते हैं कि अरे जीव! अपने केवलज्ञान के कारण को अपने स्वभाव में ही ढूँढ़... तेरा कारणस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है। जहाँ अन्तर्मुख होकर ऐसे कारण में लीन हुआ, वहाँ 'यह मेरा कारण और यह मेरा कार्य'—ऐसे कारण-कार्य के भेद के विकल्प भी नहीं हैं, वहाँ तो कारण-कार्य की एकतारूप आनन्द का ही वेदन है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। उसका ज्ञान 'स्वभाव' और 'विभाव' ऐसे दो प्रकार का है, तथा उसके कुल नौ प्रकार होते हैं; वे इसप्रकारः—

(१-२) कारणस्वभावज्ञान, कार्यस्वभावज्ञान—यह दो प्रकार स्वभाव ज्ञान के हैं।

विभावज्ञान 'सम्यक्' और 'मिथ्या'—ऐसे दो प्रकार का है।

(३-६) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान—यह चार प्रकार सम्यग्ज्ञान के हैं।

(७-९) कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभंगज्ञान—यह तीन प्रकार मिथ्याज्ञान के हैं।

—इसप्रकार ज्ञान के कुल नौ प्रकार हैं। इनमें से कौन-सा ज्ञान किन जीवों को होता है—वह अब कहेंगे।

[नियमसार की इन ११-१२ वीं गाथाओं में निम्नोक्त छह विषय हैं—

(१) ज्ञान उपयोग के नौ प्रकारों का वर्णन (२, स्वभावज्ञान, ४ सम्यग्ज्ञान और ३ मिथ्याज्ञान)

(२) कौन-सा ज्ञान किन जीवों को होता है—उसका वर्णन।

(३) कौन-से ज्ञान 'प्रत्यक्ष' हैं तथा कौन-से 'परोक्ष' है—उसका वर्णन।

(४) कौन-सा ज्ञान उपादेय (मोक्ष का मूल) है—उसका वर्णन।

(५) आत्मा को कैसा भाना चाहिये—उसका वर्णन।

(६) 'यह ब्रह्मोपदेश है'—ऐसा कहकर उस विषय की महिमा।

—उपरोक्त छह विषयों में से पहला विषय यहाँ समाप्त हुआ।]

(क्रमशः)

आत्मार्थी की अभिलाषा

जिसे आत्मा की सच्ची अभिलाषा जागृत हो... आत्मा की सच्ची गरज हो... उस जीव की दशा कैसी होती है ? उसे समझाते हुए एकबार पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि—

आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन से पूर्व स्वभाव समझने की इतनी तीव्र रुचि होती है कि श्रीगुरु के निकट स्वभाव का श्रवण करते ही उसे ग्रहण करके आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है... आत्मा में परिणमित हो जाता है !... अहो ! श्रीगुरु ने मेरा ऐसा स्वभाव बतलाया !... इसप्रकार गुरु का उपदेश उसके आत्मा को स्पर्श कर लेता है ।

जिसप्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह चूस लेता है, अथवा दहकता हुआ लाल लोहा, पानी की बूँद को चूस लेता है, उसीप्रकार दु:ख से अतिसंतप्त आत्मार्थी जीव, श्रीगुरु का उपदेश मिलते ही उसे चूस लेता है अर्थात् उसे तुरन्त ही आत्मा में परिणमित कर लेता है ।

आत्मार्थी को स्वभाव की जिज्ञासा और आकांक्षा इतनी उग्र होती है कि 'स्वभाव' का श्रवण करते ही वह एकदम हृदय में उतर जाता है... अरे ! 'स्वभाव' कहकर ज्ञानी क्या बतलाना चाहते हैं ?—वही मुझे ग्रहण करना है... इसप्रकार रोम-रोम में स्वभाव का उत्साह जागृत होता है और वीर्य का वेग स्वभाव की ओर ढल जाता है । ऐसा पुरुषार्थ जागृत होता है कि स्वभाव को प्राप्त कर ही लेते हैं... जबतक उसकी प्राप्ति न हो, तबतक चैन नहीं पड़ता !—ऐसी दशा हो, तब आत्मा की सच्ची अभिलाषा कही जाती है ।

'एकबार आनन्दस्वरूप में डुबकी लगा'

[डोंगरगढ़ पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(ता० ८-४-५९)

[डोंगरगढ़ के सेठ श्री भागचन्दजी साहब तथा अन्य सज्जनों के विनम्र आग्रहवश पूज्य गुरुदेव डोंगरगढ़ पधारे थे; उस समय का प्रवचन]

इस 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' शास्त्र की रचना पद्मनन्दि नाम के दिगम्बर वनवासी संत ने की है। आत्मानन्द के ज्वार में झूलते-झूलते उन्होंने इस शास्त्र की रचना की है। जिसप्रकार समुद्र में ज्वार आता है, वह बाहर की वर्षा से या नदियों के जल से नहीं आता; समुद्र के स्वयं उछलने से ज्वार आता है; उसीप्रकार ज्ञान और आनन्द का समुद्र भगवान आत्मा स्वयं अंतर्मुख होने पर स्वानुभव के द्वारा उसमें आनन्द का ज्वार आता है; किसी बाह्य साधन से या राग से उसमें आनन्द का ज्वार नहीं आता।

यह चैतन्यज्योति आत्मा तन-मन-वचन से भिन्न है; उसका अनुभव तन-मन-वचन से नहीं होता; किन्तु अंतर्मुख होकर स्वानुभव से ही वह ज्ञात होता है, अर्थात् यह स्वानुभवगम्य है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—अहा, प्रत्येक जीव सर्वज्ञस्वभावी है; किन्तु स्वयं अपने सर्वज्ञस्वभाव को भूलकर अपने को पामर-अल्पज्ञ मान लिया है, इसलिये संसार में भटक रहा है। सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति-ज्ञान-अनुभव के बिना मात्र राग जितना मानकर—शुभराग को भला मानकर जीव ने अनंतबार शुभभाव से व्रत-तप किये हैं, किन्तु आत्मज्ञान के अभाव के कारण उसके संसार भ्रमण का अंत नहीं आया। जीव ने अनंतकाल में एक क्षण भी आत्मज्ञान नहीं किया; इसलिये कहते हैं कि—

'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥'

(-छहढाला)

जीव ने पूर्व अनंतकाल में आत्मज्ञान नहीं किया; तथापि जो जीव पात्र होकर आत्मज्ञान करना चाहे, उसे क्षणमात्र में होता है। आठ वर्ष के बालक को या सिंहादि तिर्यंचों को भी आत्मज्ञान

होता है। अरे! नर्क की अनंत प्रतिकूलता के बीच पड़े हुए जीवों को भी आत्मज्ञान हो सकता है। इससमय विदेहक्षेत्र में सीमंधरादि बीस तीर्थंकर भगवान साक्षात् विराजमान हैं; उनकी धर्मसभा में आठ-आठ वर्ष के राजकुमार तथा शेर, चीता आदि अनेक जीव आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं।

उस आत्मज्ञान का साधन क्या है? क्या भगवान की वाणी उसका साधन है? नहीं; वास्तव में भगवान की वाणी आत्मज्ञान का साधन नहीं है; यदि वाणी साधन हो तो उसे श्रवण करनेवाले सभी श्रोताओं को आत्मज्ञान हो जाना चाहिये। आत्मज्ञान का सच्चा साधन अपना आत्मा ही है; जिसने अंतर्मुख होकर आत्मा का अवलम्बन लिया, उसने अपने आत्मा को ही सम्यक्ज्ञान का साधन बनाया।

यह चिदानन्दस्वरूप आत्मा अरूपी है और वचन तो रूपी हैं; वे रूपी-वचन, अरूपी आत्मा का स्पर्श भी नहीं करते; इसलिये उन वचनों के अवलम्बन से आत्मा अनुभव में नहीं आता। वचन और विकल्पों से पार होकर सीधे आत्मा के अवलम्बन से ही आत्मा का अनुभव होता है; इसलिये वह मात्र स्वानुभयगम्भ्य है। आचार्यदेव कहते हैं कि—हमें चैतन्यस्वरूप के कथन का विकल्प उठा है और वचन निकलते हैं; किन्तु वे वचन, आत्मा को स्पर्श नहीं करते; उन वचनों द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता; इसलिये तुम वचनों का अवलम्बन न लेकर, वचन का वाच्य जो शुद्ध-चैतन्यस्वरूप है, उसे लक्ष में लेकर उसी का अवलम्बन करना। क्योंकि—

'जे पद श्री सर्वज्ञे दीहुँ ज्ञान माँ,
कही शक्या नहिं ते पण श्री भगवान जो...
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो...'

अहो, इस स्वानुभवगम्य चैतन्यपद को वचन द्वारा किसप्रकार कहें! वचन से चाहे जितना कहा जाये; किन्तु जबतक वचन से विमुख होकर (उसका अवलम्बन छोड़कर) स्वभावोन्मुख न हो, तब तक आत्मा ज्ञात नहीं होता। समयसार के मंगलाचरण में भी आचार्यदेव कहते हैं कि स्वानुभूति से प्रकाशमान ऐसे 'समयसार' को (शुद्ध आत्मा को) मैं नमस्कार करता हूँ:—

'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'

'समयसार' अर्थात् शुद्ध आत्मा अर्थात् सारभूत आत्मा। राग तो असार है, वह कहीं सार नहीं है; मन-वाणी-देह तो जड़ है, वह भी कहीं सार नहीं है। जड़ से भिन्न और राग से पार तथा

शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा है, वही सारभूत है—ऐसा सारभूत आत्मा स्वानुभवगम्य है। इसप्रकार स्वानुभवगम्य आत्मा को जानकर, उसे नमस्काररूप मंगलाचरण किया है। मैं शुद्ध आत्मा को नमता हूँ; इसका अर्थ यह हुआ कि मैं राग को नहीं नमता; राग की ओर नहीं ढलता; राग का आदर नहीं करता; राग करते-करते उसके अवलम्बन से हित हो जायेगा—ऐसा नहीं मानता। राग से पार होकर अंतर में शुद्ध चिदानन्द आत्मा की ओर उन्मुख होता हूँ, उसमें ढलता हूँ, उसका आदर करता हूँ—इसका नाम 'नमः समयसाराय' है।—इसप्रकार जिसने एक बार भी शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया, उसके भवभ्रमण का अन्त आ गया।

आत्मा में स्वभाव से ही सर्वज्ञता और पूर्ण आनन्द की शक्ति (लैंडी पीपल में चरपराहट की भाँति) भरी है; उसी में से वह प्रगट होती है। जिसमें जो स्वभाव हो, उसी में से वह प्रगट होता है; जो न हो, वह कभी प्रगट नहीं हो सकता। जड़ में कभी ज्ञान या सुख है ही नहीं; तो उससे आत्मा को ज्ञान या सुख कैसे प्राप्त होगा? ज्ञान और सुख तो आत्मा का स्वतःस्वभाव है; किन्तु स्वयं अपने स्वभाव की संगति छोड़कर जड़ का संयोग किया, इसलिये उसे अपने सुख का अनुभव नहीं होता; उसमें जीव का अपना ही दोष है; कर्म ने उसे नहीं रोका है; क्योंकि—

करम बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई,
अग्नि सहै घनघात लोह की संगत पाई॥

अकेली अग्नि पर कोई घन नहीं मारता, किन्तु अग्नि ने स्वयं लोहे का संसर्ग किया, इसलिये उस पर घन की चोटें पड़ती हैं। उसीप्रकार चैतन्यज्योति आत्मा यदि स्वयं अकेला अपने स्वभाव में रहे तो उसे दुःख नहीं होता, किन्तु अपने स्वाभाविक सुख का वेदन होता है। स्वयं अपने स्वभाव का संग छोड़कर पर का संग किया, इसलिये जीव स्वयं अपने अज्ञानभाव से दुःखी होता है; कर्म बेचारा उसका क्या कर सकता है? लेकिन जीव को अपनी भूल कर्म पर डाल देने की आदत पड़ गई है। अरे, क्षणिक पर्याय में स्वयं स्वतंत्ररूप से दोष करता है—उसे भी जो स्वीकार नहीं करता, वह जीव अनंत गुणों से स्वतंत्र ऐसे शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को कैसे स्वीकार करेगा? शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा विकार से भी पार स्वानुभवगम्य है। वह चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा भव दुःख से आपकी रक्षा करे!—इसप्रकार आशीर्वादात्मक वचन कहकर आचार्यदेव अपूर्व मंगलाचरण करते हैं।

अरे जीव! तेरे स्वभाव में ही सुख है; यह बात लक्ष में लेकर एक बार तू उसके अनुभव का

प्रयत्न तो कर... शरीरादि की ममता छोड़कर एकबार आनन्द सागर में मग्न हो... तो उस आनन्द सागर में मग्नता से तुझे अपना चैतन्य तेज प्रगट अनुभव में आयेगा। जिसप्रकार धूल से निकलकर स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करने से शांति का वेदन होता है; उसीप्रकार समस्त बाह्य पदार्थों की ममता छोड़कर (-उन्हें अपने से अत्यंत भिन्न जानकर) अंतर्मुख होकर आनन्द सागर में मग्न होने से जो वस्तु अनुभव में आती है, वही आत्मा है; वही तेरा चैतन्यस्वरूप है। एक बार ज्ञानानन्दस्वरूप में डुबकी लगा तो तुझे तेरा आत्मा अनुभवगम्य होगा। ऐसा स्वानुभवगम्य आत्मा ही जगत के जीवों को शरणरूप है; वही मंगलरूप है और वही भवभय से रक्षा करनेवाला है; इसलिये ऐसे आत्मा की प्रतीति तथा अनुभव का उद्यम करना चाहिये—यही कर्तव्य है।

'न आत्मध्यानात् परो सौख्यं'

[कारंजा तथा परतवाड़ा ग्रामों में पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से]

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में अनंत ज्ञान और अनंत आनन्द की शक्ति भरी है। जिसप्रकार लैंडी पीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभाव है ही। यदि न हो तो वह बाहर से नहीं आ सकता। परन्तु आत्मा की वर्तमान दशा में आत्मा राग-द्वेष-मोहरूप अपराध को करते हैं, इसलिये उसे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन नहीं होता। आत्मा की दशा में यदि अपराध न हो तो उसे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होना चाहिये। परन्तु आनन्द का वेदन नहीं है, इसलिये दु:ख है—अपराध है।—यह बात निश्चित हुई।

अब दूसरी बात—आत्मा में जो राग-द्वेष-मोहरूप अपराध है, वह उसका स्थायी स्वरूप नहीं है किन्तु क्षणिक विकृति है; उसे टालकर आत्मा निर्दोषस्वरूप से रह सकता है। विकारस्वरूप ही सम्पूर्ण आत्मा हो गया हो तो विकार कभी दूर नहीं हो सकता। किन्तु चिदानन्दस्वभाव के

आश्रय से विकार दूर होकर निर्दोषता हो सकती है। अनंत जीव विकार को हटाकर पूर्णानन्द प्रगट करके परमात्मा हुए हैं।

जो परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए हैं? अपने आत्मा में शक्ति थी, उसी में से और उसी के आधार से परमात्मदशा प्रगट की है। विकार और अल्पज्ञता होने पर भी प्रथम, स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा विश्वास आना चाहिये कि मेरा स्वभाव, विकार रहित, ज्ञानानन्द से परिपूर्ण है। चैतन्यस्वभाव का विश्वास करके फिर उसमें एकाग्रता करने से विकार का नाश होकर आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

रागादिक विकार हैं; उस विकार में चैतन्य का विकास नहीं है। अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के आश्रय से ही चैतन्य का विकास होकर पूर्ण परमात्मा होते हैं। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसका ध्यान करना ही परमात्मा होने का उपाय है।

करीब ४०० वर्ष पहले ज्ञानभूषण स्वामी ने 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' में आत्महित के सम्बन्ध में लिखा है कि—शुद्ध चिद्रुप आत्मा को जानकर उसका ध्यान करना ही हित का—शांति का और मुक्ति का उपाय है—

न आत्मध्यानात् परो सौख्यं
न आत्मध्यानात् परं तपः
न आत्मध्यानात् परो मोक्ष-
पथ क्वापि कदाचन्।

कैसा है आत्मा? पूर्ण ज्ञान और आनन्द की शक्ति से परिपूर्ण है; उसका स्वभाव शांत तथा अविकारी है।—ऐसे आत्मतत्त्व को जानकर उसका ध्यान करना, सो उत्तम सुख है; वही सच्चा सुख है; इसके अतिरिक्त संसार में अन्यत्र कहीं सुख नहीं है और चैतन्यतत्त्व में उपयोग को एकाग्र करके उसका ध्यान करना ही उत्तम तप है।—ऐसे आत्मध्यान द्वारा ही मोक्ष की साधना होती है।

चैतन्यतत्त्व को चूककर पर का ध्यान अर्थात् पर में सुख है—ऐसी मिथ्याबुद्धि, सो दुःख का मूल है। चैतन्य के सुख से च्युत होकर बाह्य में सुखबुद्धि के कारण जीव अनादिकाल से दुःखी हो रहा है। वह दुःख दूर होने का उपाय क्या है? सन्त उसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि—अरे जीव! तेरा आत्मा ही सुखस्वभाव से परिपूर्ण है; जगत के बाह्य विषयों में कहीं तेरा सुख नहीं है और बाह्य पदार्थों की ओर की वृत्ति में भी सुख नहीं है।

लक्ष्मी, सुन्दर, शरीर, मिष्टान्न, सोना-चांदी अथवा हीरा-मोती आदि जड़ वस्तुओं में सुख का अंश भी नहीं है, तो उनमें से सुख कहाँ से आयेगा ? सुख तो आत्मा के स्वभाव में है। पुण्य और पाप भी जीव ने अनंत बार किये हैं, किन्तु उनसे पार चिदानन्दतत्त्व क्या है, उसे जीव ने कभी नहीं जाना, इसलिये उसे किंचित् सुख प्राप्त नहीं हुआ।

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

जीव ने बाह्य में सुख की कल्पना कर रखी है; न होने पर भी वहाँ सुख माना है; इसलिये वहाँ से विमुख नहीं होता। जहाँ सुख माने उससे विमुख क्यों होगा ? पर में सुख मानकर अज्ञानी जीव, पर में एकाग्रबुद्धि करता है और स्वोन्मुख नहीं होता, इसलिये पराश्रय से परिभ्रमण कर-करके दु:खी होता है। अपने स्वभाव में सुख होने पर भी, जीव स्वभावोन्मुख होकर उसका विश्वास नहीं करता, इसलिये स्वभाव का सुख उसके वेदन में नहीं आता। स्वभाव में सुख है—उसका विश्वास करके यदि स्व सन्मुख हो तो स्वभाव के अतीन्द्रियसुख का अनुभव होता है। उस सुख का अनन्तवाँ भाग भी इन्द्र के वैभव में नहीं है।

भाई, एकबार तो लक्ष कर... अंतर में अपने आत्मा का विश्वास तो कर... प्रभो! चैतन्य के विश्वास से तुझे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। चैतन्य से बाह्य में तूने जो सुख माना है, वह वास्तव में सुख नहीं है, मात्र अपने राग के वशीभूत होकर तूने उसमें सुख की कल्पना की है... वह मिथ्या कल्पना तुझे दु:ख का कारण है।

अनंत काल से संसार परिभ्रमण करता हुआ जीव, राजा और रंक आदि समस्त संयोग प्राप्त कर चुका है, किन्तु चैतन्यतत्त्व का वास्तविक सुख उसने कभी प्राप्त नहीं किया। इसलिये हे जीव! अनंत काल में जिसकी प्राप्ति नहीं हुई है—ऐसे अपने चैतन्यतत्त्व को तू पहिचान। चैतन्यतत्त्व को पहिचानकर उसमें एकाग्र होना ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसका सम्पूर्ण समावेश चैतन्य के ध्यान में हो जाता है। चैतन्य के ध्यान से बाहर (रागादि परभावों में अथवा देहादि की क्रियाओं में) कहीं भी सुख या मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि—'न आत्मध्यानात् परो सौख्यं'—आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य कोई सुख नहीं है।

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	समयसार पद्यानुवाद	।)
आत्मावलोकन	१)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।